संतान का सुख

डॉ. मनोज कुमार सतीजा*

संतान का सुख व्यक्ति के जीवन में ऐसा सुख है, जो उसके जीवन को सुखमय व आनन्दमय बना देता है। इस सुख को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति संघर्ष करता है, मन्नतें मांगता है, आशीर्वाद मांगता है और हर भरसक प्रयास कर संतान को प्राप्त कर अपने को भाग्यशाली समझता है, क्योंकि यही सुख उसे जीवन जीने की एक नई वजह देता है। इस सुख के साथ उसके जीवन की भावी योजनाएं बनती है। भविष्य के स्वप्नों का निर्माण होता, जीवन में अधिक से अधिक उन्नति प्राप्त करने की वजह मिलती है। यहां तक की इस सुख की प्राप्ति के लिए व्यक्ति अपना सर्वस्व निछावर करने लिए भी सदैव तैयार रहता है। वह तन-मन-धन से अपनी संतान की निस्वार्थ भाव से सेवा करता है और अपने सम्पूर्ण जीवन को समर्पित कर देता है, साथ ही साथ जीवन भर संघर्षो, कष्टों, दुखों, यातनाओं को सहते हुए, अपनी इच्छाओं का गला घोंटते हुए जीवन में उसने जो भी उपलब्धि व सम्पत्ति प्राप्त की है, वह भी अपनी संतान के उज्जवल भविष्य की कल्पना व कामना करते हुए उसके लिए छोड़ जाता है और इसके लिए वह किसी प्रकार का प्रतिफल नही चाहता। हां, एक इच्छा अवश्य उसके मन में सदैव बनी रहती है कि उसके जीवन के अंतिम पड़ाव में उसकी संतान उसके नजदीक रहें और फिर हमारी संस्कृति में यह आस्था है कि माता पिता को मोक्ष तब ही प्राप्त होता है जब उनकी संतान द्वारा उनका अंतिम संस्कार किया जाए। इस दृष्टि से भी बुढ़ापे के अंतिम समय पर संतान के सुख की लालसा और अधिक बढ़ जाती है। पहले के समय में संगठित परिवार में यह समस्या अधिक विकट नही होती थी, लेकिन एकल परिवार में जहां माता पिता और बेटा-बेटी में परिवार सीमित हो गया वहां जब बेटी विवाह के बाद दूसरे घर चली जाती है और बेटा अपनी संतान के जीवन को लेकर व्यस्त हो जाता है, तब माता पिता अपने बुढ़ापे में अपनी संतान के कुछ क्षणों को प्राप्त करने के लिए भी तरसते रह जाते हैं। भौतिक वस्तुओं और सेवाओं की तो बात अलग है। यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति अनेक वृद्ध वर्ग की है कि धन और संतान होने के बावजूद बुढ़ापे के अंतिम समय में वृद्ध आश्रम में आश्रय लेना पड़ता है। इनमें से अधिकांश वृद्धों की संतानें इंजीनियर है, डॉक्टर है, प्रोफेसर है, सीए है, और कई अन्य प्रतिष्ठित पदों पर कार्यरत है। कहने को तो कहा जाता है कि पुत्र का यह दायित्व व कर्तव्य है कि वह अपने माता-पिता के बुढ़ापे का सहारा बने किन्तु आज ऐसी बहुत ही कम संतानें है जो इस कर्तव्य का निर्वाह पूरे समर्पण व निस्वार्थ भाव के साथ कर रही हैं। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के कारण भारतीय संस्कारों के सेवाभाव में कमी स्पष्ट रूप से देखने को मिल रही है। एकल परिवार में रहने का चलन देखने को अधिक मिल रहा है। विवाह के कुछ समय के बाद ही बहू बेटे में अलग रहने की मानसिकता पनपने लगती है और बच्चों के बड़े होने के साथ-साथ यह मानसिकता अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाती है और संतान अपने दायित्व को एक बोझ की तरह महसूस करने लगती है। यह अजीब विडम्बना है कि माता-पिता

* सहायक व्याख्याता,
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

तो पूरे त्याग और समर्पण भाव से संतान की सेवा करते है, किन्तु समय आने पर संतान अपने दायित्वों से विमुख होने लगती है। जिस संतान के सुख और भौतिक सुविधाओं की आशा रखते विदेश मे अच्छी व उच्च शिक्षा के लिए माता-पिता अपनी इच्छाओं व सुविधाओं को त्याग कर भेजते है, वही संतान विदेश में बस जाते हुए यह तक नही सोचती कि सुख-दुख में उनके माता-पिता का कौन सहारा होगा। बीमारी तो कम तकलीफ है, मरने पर भी समय निकाल पाना उनके लिए कठिन हो जाता है।

उनकी अपनी महत्वकांक्षाओं के समक्ष मानवीय मूल्यों का कोई महत्व नही होता। उन्हें यह लगता है कि माता-पिता के लिए धन और भौतिक सुविधाओं को उपलब्ध करने भर से उनके दायित्व की पूर्ति हो गई। परन्तु वास्तविकता यह है कि बुढ़ापे में इन वस्तुओं से कही अधिक महत्व है संतान का सामीप्य का होना, संतान का कुछ समय उनके साथ व्यतीत करना, उनसे बातचीत करना, उनके प्रति प्रेम व आभार प्रकट करना आदि। उनकी बुझती हुई जीवन की लौ में अलौकिक प्रेम व सुख की अनुभूति का प्रकाश भर देती है।

लेकिन इसमें भी कोई संदेह नही है आज भी ऐसी संस्कारों से परिपूर्ण संतानें जो अपने दायित्व के प्रति सजग है। यहां तक की जहां पुत्रों ने दायित्व नही निभाया, वहां पुत्रियों ने इस दायित्व को पूरे समर्पण भाव से निभाया है, किन्तु इसमें निरन्तर कमी आ रही है। सास-ससुर से बहू का विवाद, जमीन जायदाद की लालसा, एकल परिवार में रहने की मानसिकता, निजी स्वतंत्रता की सोच ने धीरे-धीरे बुढ़ापे को अकेला छोड़ दिया है। निस्वार्थ भाव से अपनी संतान का पालन पोषण करने वाले माता-पिता को बुढ़ापे में अपने आसरे व सहारे के लिए संदिग्ध परिस्थितियों में जीवन व्यतीत करना पड़ता है। तीन-चार संतानों के होते हुए भी एकाकी जीवन जीने के लिए विवश होना पड़ता है। उस बुढ़ापे को अकेले काटना पड़ता है, जहां जीवन में सबसे अधिक आवश्यकता अपनी संतान की होती है, क्योंकि उस समय न स्वास्थ्य, न सम्पत्ति, न धन, न वैभव साथ देता है। उस अकेलेपन को भरने के लिए संतान का साथ और सेवा-भाव ही सर्वोपरि होता है। समाज में अकेले रहने वाले वृद्धों पर आपराधिक मामलों में भी निरंतर बढ़ोतरी हो रही है। ऐसी स्थिति में बुढ़ापे में सुरक्षा की दृष्टि से भी संतान की जिम्मेदारी और अधिक बन जाती है कि वह अपने पालनहार की सुरक्षा के प्रति पूर्ण रूप से सजग रहे।

संतान की माता-पिता के प्रति संवेदनशीलता में कमी का एक कारण स्वयं माता-पिता भी है, जो अत्यधिक संतान मोह में अपनी ओर से तो सर्वस्व त्याग करने को तत्पर रहते है, किन्तु अपनी संतान को उनकी नैतिक, पारिवारिक, सामाजिक जिम्मेदारीयों के प्रति सजग कर पाने में विफल हो जाते है।

सम्भवतः विदेशी संस्कृति के प्रभाव का असर उन पर भी होता है। जिसके फलस्वरूप वे अपनी संतान को पूर्ण रूप से बिना किसी नैतिक जिम्मेदारी से स्वतंत्र व स्वार्थपूर्ण जीवन को जीने की प्रेरणा दे देते है।

ऐसे में यदि देखा जाए तो वास्तव में बुढ़ापे में बुढ़ापे का सबसे बड़ा सहारा पति-पत्नी स्वयं एक दूसरे के होते हैं। जीवन के इस पड़ाव में सबसे नजदीक व विश्वसनीय सहारा वे ही एक दूसरे का होते है, लेकिन यह भी जीवन की वास्तविकता है कि एक समय ऐसा भी आता है, जब दोनों मे से एक को अकेले रहने के लिए विवश होना पड़ता है। ऐसे में भावी पीढ़ी ही उसके जीवन में एकमात्र विश्वसनीय बुढ़ापे का सहारा रह जाती है, इसलिए यह और भी आवश्यक है कि माता-पिता अपनी संतानों को अपने दादा-दादी के साथ पूरी आत्मीयता के साथ जोड़ने का प्रयास करें ताकि उनमें आत्मीयता, सम्मान, कर्तव्य निष्ठा व प्रेम भाव बना रहे और बुढ़ापे में जिस आत्मीयता व सुख की कामना वे करते हैं, वह उन्हें प्राप्त हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि नयी पीढ़ी को आदर्शों, नैतिकता, संस्कारों व दायित्वों के प्रति सजग किया जाए उन मानवीय मूल्यों के प्रति सचेत किया जाए जो व्यक्तिगत स्वतंत्रता व व्यक्तिगत स्वार्थ से अधिक महत्व रखते है।

❖❖❖❖